

अकुलागम का परिचय

□ रा. पां. गोस्वामी, एम. ए., बी. लिब.
[पुणे विद्यापीठ, पुणे]

संसार के बहुत से धर्म-संस्थापकों के बीच यह एक सामान्यभाव है कि ये धर्मों के उपदेष्टा आत्मसाक्षात्कार से सम्पन्न थे। हमें बहुशः इन श्रेष्ठ महात्माओं के साक्षात्कार-प्रसंग के बाद की जीवनी के बारे में कुछ ज्ञान होता है। कहीं इनके बचपन की कुछ बातें भी परम्परा में सुरक्षित हैं। मगर इनके साधनाकाल के बारे में हमें बहुत ही कम जानकारी होती है। साधनाकाल गुप्तता में व्यतीत करने का संकेत जरूर है। इसके अनन्तर भी अपने साधनाकाल, व्यक्तित्व और अनुभवों के बारे में इन साक्षात्कारी पुरुषों के मुख से बात सहसा निकली नहीं। मगर जो बातें निकली हैं उनसे यह स्पष्ट होता है कि इन महानुभावों ने अपनी जीवनी में योग और योगशास्त्र को अपनाया था। योग के अन्तर्गत जो एक साधारण प्रक्रिया है इसके ये महाभाग जरूर ज्ञात थे और प्रसंगवश चुने हुए शिष्यों को ही इसकी जानकारी देते थे। अब वर्तमान युग में ज्ञान का परिस्फोट हो रहा है। पुराने जमाने में जो विद्या गुप्त रहती थीं अब स्वयं कपाटों को भेदकर विश्व को अपना दर्शन दे रही हैं।

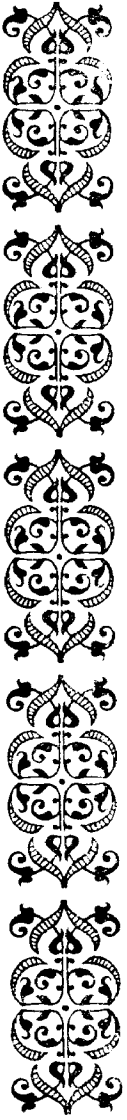
केवल योग ही नहीं, मध्ययुग तक सभी विद्याएँ गोपनीय समझी जाती थीं। विद्या अथवा शास्त्र, शस्त्र के समान ही हैं। चंचलवृत्तिवाले शिष्य के हाथ कहीं उसका दुरुपयोग न हो और परिणामतः समाज को लाभ के बजाय हानि न हो, इस दृष्टि से केवल गुरूपदिष्ट विद्या को महत्व दिया जाता था। योगविद्या के बारे में यह सावधानी रखने की विशेष जरूरत थी। कारण कि योगविद्या एक ऐसा तन्त्र है जिसमें थोड़ी-सी असावधानी से साधक को खतरा होना सम्भव है। और जबकि विद्यासम्पन्न व्यक्ति विशिष्ट शक्ति से सम्पन्न होता है तब अगर वह विवेक-मार्ग पर स्थिर न रह सके तो उस शक्ति का दुरुपयोग होना बहुत ही सम्भव है।

उपकरण और देश-काल-जाति विशिष्टता की आवश्यकता कम रहने के कारण योगविद्या सर्वसाधारण मनुष्य को भी सुलभ है। यही सुलभता बढ़ाने के कारण परम्परा-प्राप्त मौखिक विद्या अक्षरों में निबद्ध कर लिखित रूप में लाने का कष्ट जिन महाभागों ने किये उन्होंने खुद को बाद की पीढ़ियों का ऋणी बनाया है। हाल में प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थों को जिज्ञासुओं के उपयोग के लिए संगृहीत करने का जो एक प्रवाह शुरू हुआ है यह इस कारण स्तुत्य है कि इससे हमें अश्रुतपूर्व और अप्राप्य ग्रन्थों के बारे में जानकारी हो रही है। योगशास्त्र पर कुछ थोड़े ही ग्रन्थ लिखे हुए हैं और जो लिखे हुए हैं उनमें से भी थोड़े ही उपलब्ध हैं। इनमें पातञ्जल योगसूत्र की टीकाएँ, कुछ योग-उपनिषद् हैं। इसके बाद गोरक्षनाथ, हेमचन्द्र, इन्दुदेव, स्वात्माराम आदि कुछ महानुभावों के इस विषय पर लिखे हुए ग्रन्थ मुख्य हैं।

इनके अतिरिक्त एक प्रकार का वाङ्मय है जो आगमस्वरूप है या आगमों का अंश बनकर रहा है। प्रारम्भिक जैन आगम और बौद्धसूत्रग्रन्थों में योगविद्या के कुछ अंश जरूर हैं। यही पद्धति आगे शैव, शाक्त और पाञ्चरात्र जैसे वैष्णव आगमों में अनुस्यूत है। कुछ शैव आगम और कुछ पाञ्चरात्र आगम ज्ञान, योग, चर्या और क्रिया नाम के पादों में विभक्त है। इन आगमों के बीच रचना-पद्धति और कथनीय विषयों के बारे में बहुत कुछ परस्पर लेन-देन हो गयी है। इस तथ्य का पता हमें इनके तुलनात्मक अध्ययन से लग सकता है। पाद्मसंहिता का योगपाद तो इस विषय में उल्लेखनीय है जिसका बहुत-सा अंश शब्दशः त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद् ही है।

आगम ग्रन्थों की एक विशेषता यह है कि उनके कर्ता अथवा रचयिता का पता नहीं चलता। कहीं ईश्वर-पार्वती के संवादरूप में आगम है तो कहीं वैष्णवों के आराध्यदेव और भक्त या आचार्य के संवाद रूप में है। प्रतीत होता है कि कर्ता ने परम्परा-प्राप्त ज्ञान क्वचित् शब्दों में फेरफार करके या क्वचित् फेरफार न करके स्वयं ग्रथित किया हो और उसे प्रामाणिकता प्राप्त करवाने के लिए किसी पूजापात्र देवता या व्यक्ति के नाम से जोड़ दिया हो।





अब जिस योगशास्त्र ग्रन्थ के परिचयस्वरूप में कुछ लिखना प्रस्तुत है उसका नाम है अकुलागमशास्त्र। इस ग्रन्थ में उपरनिर्दिष्ट सभी विशेषताएँ मौजूद हैं। मुख्यतः शिव-पार्वती संवाद-रूप इस संस्कृत ग्रन्थ को भगवान नारायण ने नारदजी को उपदेशरूप में बनाया है, ऐसे ढंग में लिखा है। इसमें करीब ७०० श्लोक हैं और यह नौ या दस पटलों में विभक्त हैं। ढाँचे से मालूम होता है कि यह शैव और वैष्णव दोनों धाराओं का समन्वितरूप है। इस पर भगवद्गीता का विशेष प्रभाव है और शैली में यह मध्ययुगीन कुछ ग्रन्थों का अनुकरण करने वाला है। प्रकाशित ग्रन्थों की सूचियाँ देखने से पता चलता है कि यह ग्रन्थ सम्भवतः अभी तक मुद्रित नहीं हुआ है।

इसकी एक प्रति पुणे (पूना) के संस्कृत-प्रगत-अध्ययन-केन्द्र में है जो जांभूलपाडा के श्री वीरेश्वर जी दीक्षित से भेंट आयी है। म. म. गोपीनाथ कविराज सम्पादित 'तान्त्रिक साहित्य' इस तन्त्र वाङ्मय के सूचीरूप ग्रन्थ से मालूम होता है कि इस ग्रन्थ की पाण्डुलिपियाँ लन्दन के इण्डिया ऑफिस में, कलकत्ते की एशियाटिक सोसायटी में और पुणे के भाण्डारकर प्राच्यविद्या संशोधन मन्दिर में हैं। इसके अलावा स्व. हरप्रसाद शास्त्रीजी द्वारा दी हुई विवरणात्मक सूची के दूसरे खण्ड में एक प्रति का उल्लेख है। न्यू कैटलोगस कैटलोगोरम में और भी तीन प्रतियों के उल्लेख हैं जिनमें एक अमरीका के पेन्सिल्वानिया विद्यापीठ के संग्रह में है; दूसरी मैसूर के राजकीय (अब विद्यापीठ में) ग्रन्थ संग्रह में है, और एक कलकत्ते की एशियाटिक सोसायटी में है।

संस्कृत केन्द्र की प्रति में १ से ४ और ६ से ९ पटल हैं। भाण्डारकर मन्दिर की प्रति में पूरे नौ पटल मौजूद हैं। पाँचवाँ पटल सबसे छोटा केवल १८ श्लोकों का है। इण्डिया ऑफिस की प्रति में दस पटल हैं। इन प्रतियों में श्लोक संख्या क्रमशः ६८४, ६६३ और ७६७ है। तुलनात्मक सारणी नीचे दी गयी है—

पटल	सं. केन्द्र प्रति	भां. मन्दिर प्रति	इण्डिया ऑफिस प्रति
१	१२२	८८	१२३
२	५३	५०	५३
३	७१	७२	६८
४	५५	६०	६७
५	—	१८	१६
६	२६	२६	२८
७	८१	८२	८०
८	३६	३८	३५
९	२३४	२२६	२२६
१०	—	—	७५
	६८४	६६३	७६७

इससे यह स्पष्ट होता है कि श्लोक संख्या में और पाठ में बहुत कुछ बढ़-घट हो गयी है। गोपीनाथ कविराज जी ने भां. मन्दिर की प्रति (संवत् १७५८) सबसे पुरानी मानी है और यही इस ग्रन्थ के लेखन का काल निश्चित किया है। संस्कृत केन्द्र की प्रति का लिपिकाल संवत् १८३५ है। भाण्डारकर मन्दिर की प्रति के अन्त में श्लोक संख्या ५७५ लिखी है जबकि असल में उसमें ६६७ श्लोक हैं। हरप्रसाद शास्त्रीजी को उपलब्ध प्रति में श्लोक संख्या १००० दी गई है। भाण्डारकर मन्दिर प्रति में एक जगह पत्र की वाजू में 'नकुलागम' ऐसा नाम लिखा है।

इसी ग्रन्थ का अन्य नाम योगसारसमुच्चय है। हो सकता है कि यही इस ग्रन्थ का असली नाम हो और अनन्तर जब इसे महत्व देने के लिए ईश्वर-पार्वती संवादरूप आगम के ढाँचे में रखा गया तब इसे अकुलागमतन्त्र यह नाम दिया गया हो।

कश्मीर शैव सम्प्रदाय में 'अकुल' शब्द का कुछ महत्व है। लकुलीश नामक महात्मा के नाम से एक सम्प्रदाय प्राचीन काल में था जो शायद ज्ञात शैव सम्प्रदायों में सबसे अधिक प्राचीन होगा। आगे चलकर उसे ही नकुलीश कहा गया। इस शब्द का मूल कारण भूल जाने से नकुलीश के आद्याक्षर 'न' को नकारात्मक—अभाववाची समझकर उसे आगे 'अकुलीश' बनाया गया। फिर 'अकुल' शब्द को 'कुल' शब्द के सन्दर्भ में लिया गया। कुल शब्द का उपर्युक्त शैव सम्प्रदाय में एक महत्वपूर्ण स्थान है जिसके कारण एक पूरा सम्प्रदाय ही कौल नाम से प्रसिद्ध हुआ। कौल मार्ग को ही अनुत्तर या निरुत्तर कहते हैं। इस सन्दर्भ में अकुलागम से एक श्लोक यहाँ उद्धृत करना उचित है—

अनन्यत्वादखण्डत्वादद्वयत्वादानाध्यात् ।
निर्धामत्वादानाम्त्वादकुलं स्यान्निरुत्तरम् ॥

इसमें अकुल शब्द या सम्प्रदाय को निरुत्तर संज्ञा के समानार्थ कहा है। इसकी दार्शनिक व्युत्पत्ति की पुष्टि में अनन्य, अखण्ड इत्यादि नकारप्रथम शब्दों का आधार लिया है। कुछ भी हो, आज तो इतना ही कहा जा सकता है कि इस ग्रन्थ का उपलब्ध रूप अकुल-नकुल शब्दों का सन्दर्भ रखने वाले शैवमार्ग से जरूर सम्बन्ध रखता था और आगे ग्रन्थ के स्वरूप में कुछ फेरफार होने के बाद भी ग्रन्थ नाम वही रहा हो।

अकुल शब्द कोशकारों के मत से शिव का वाचक है। यह अकुलागम शिवजी ने कहा है इसलिए इसे यह नामाभिधान प्राप्त हुआ हो। और भी एक बात सम्भव है। गोरक्षनाथप्रणीत सिद्धसिद्धान्त-पद्धति के नाथनिर्वाण व्याख्या में 'कुलाकुलम्' शब्द पर 'शाक्तक्रमो योगक्रमश्च' ऐसा लिखा है। इससे ज्ञात होता है कि अकुल शब्द कभी योगमार्ग का वाचक बना था। कुल शब्द कुण्डलिनी या सुषुम्ना मार्ग का वाचक है और अकुल शब्द उस मार्ग से परे रहने वाले परम शिव का वाचक है। अकुलागम का श्रेष्ठ मन्तव्य कहने के अवसर पर नौवें पटल में कहा है—

असून्नियम्य मार्गेण मध्यमेनाकुलं नयेत् ।

एतज्ज्ञानं वरं भद्रे अकुलागममध्यतः ॥११२२४॥

यहाँ अकुल शब्द प्राण का वाचक है। इस ग्रन्थकार की दृष्टि से प्राण ही आत्मा (और मन भी) है और वही ईश्वर-स्वरूप है। पटल ६ में यह बात स्पष्ट की है। इन सब बातों से इस ग्रन्थ के अकुलागम नाम का रहस्य खुल जाता है।

अब इस ग्रन्थ के समय के बारे में कुछ चिन्तन करना चाहिए। गोपीनाथ कविराज ने भाण्डारकर मन्दिर की प्रति के लिपिकाल के आधार पर इसका रचनाकाल ईस्वी सन् की अठारहवीं सदी निश्चित किया है। मगर लिपिकाल का समय ही रचनाकाल मानना भूल है। इण्डिया ऑफिस में दो पाण्डुलिपियाँ हैं। उसमें एक का काल संवत् १६२८ है। दूसरे का काल नेपाल संवत् ७६८ है जो १७३५ के लगभग होता है। संवत् १६२८ की प्रति इस ग्रन्थ की ज्ञात पाण्डुलिपियों में सबसे प्राचीन मालूम होती है। इसलिए यह अवश्य है कि इस ग्रन्थ की रचना उस वर्ष के पहले हुई है।

इस ग्रन्थ के अन्तर्गत कहीं ज्ञात काल की घटना या किसी काल का उल्लेख नहीं है। मगर एक जगह उल्लेख है जिसे भविष्यवाणी रूप में लिखा है। उसका शायद ग्रन्थ रचना से सम्बन्ध हो इसलिए यहाँ उसका उद्धरण दिया जाता है :

चत्वारिंशच्छताब्दानि चतुःसहस्रं तथैव च ।

भविष्यति कलौ संख्या तदा काले महेश्वरि ॥१४॥

विध्यस्य दक्षिणे भागे गंगायां दक्षिणे तटे ।

तत्राहं द्विजरूपेण कथयाम्यकुलागमम् ॥११५॥

'कलियुग के ४०४० वर्ष बीतने पर विध्य के दक्षिण भाग में गंगा नदी (गोदावरी ?) के दक्षिण तट पर द्विज के रूप में मैं अकुलागम प्रस्तुत करूँगा।' कलियुग वर्ष की यह संख्या ईस्वी सन् ६४० के बराबर है। इस साल में मैं अकुलागम प्रस्तुत करूँगा यह ईश्वर ने कहा है। इतना ही नहीं, 'द्विज' के रूप में कहूँगा यह भी कहा है। हो सकता है कि किसी हुई घटना को भविष्य के रूप में बतलाया हो। जैसा कि राजवंशों के बारे में पुराणों में उल्लेख मिलते हैं। इसे अगर प्रमाणित माना जाय तो यही इस ग्रन्थ के आद्यरूप का रचना समय मानने में कोई हानि नहीं। शैव सम्प्रदाय से सम्बन्ध रखने वाले और हठयोग के अभिमानी नाथसिद्ध साम्प्रदायिकों की बहुत कुछ बोलचाल इसी समय की हमें मिलती है। इसलिए ईस्वी सन् की दसवीं शताब्दी के आसपास इस ग्रन्थ का समय हो, यह सर्वथा असम्भव नहीं। इस ग्रन्थ में आये हुए भगवद्गीता के उद्धरण, षट्दर्शनों के उल्लेख तथा अन्य तात्त्विक व धार्मिक सम्प्रदायों के पारिभाषिक शब्दों के उल्लेख से यही इसकी पूर्व-मर्यादा निश्चित समझनी चाहिए।

हो सकता है किसी 'द्विज' ने इसे प्रथम प्रस्तुत किया हो। मगर 'द्विज' शब्द से हम क्या समझेंगे ? इतना ही समझ सकते हैं कि यह किसी अन्त्यर्वाणियों में से या अन्त्य आश्रमियों में से नहीं हो तथा सतत भ्रमण करने वाले नाथसिद्धों में से भी कोई न हो।

इस ग्रन्थ में विषय का अनुक्रम यह है—

पटल १—प्रस्तावना और पार्वतीजी द्वारा शंकरजी की स्तुति और योगमार्ग का उपदेश करने की प्रार्थना (१—६१)। शास्त्रों में केवल नाम से भेद है वस्तुतः नहीं इत्यादि कहकर योग के आसन-प्राणायामादि छः अंगों के





नाभि, हृदय आदि स्थानों से सम्बन्ध (—८१)। जीव, शक्ति इत्यादि; मन और प्राण का समागम होने से पाशमुक्ति और प्रणव के अभ्यास से मनःप्राणसमागम (—६०)। प्रणव और प्राणायाम का एकत्व; प्राणायाम के अभ्यास द्वारा प्राणापानयोग जमाकर जीव और शिव का ऐक्य निर्माण करना यह योग है (—६७)। ऐसे सिद्ध योगी की जरामरण से मुक्ति (—१०६)। मन और प्राण के संयोग का महत्व (—१२२)।

पटल २—कर्मस्वरूप कथन (—१३)। नाभिमध्यस्थित शिवात्मक कन्द निरूपण (—१६)। शुभाशुभ निरूपण (—२०)। चार मनोवस्था और उनके स्थानभेद (—२३)। मोक्षबन्ध और धर्माधर्म निरूपण (—३३)। जीवित और मरण निरूपण (—४१)। चतुर्विध योग (—५३)।

पटल ३—देवी का प्रश्न (—६)। ईश्वर का उत्तर—अनेक पंथ का अर्थ है इड़ापिगलादि मार्ग, इन मार्गों से जाने वालों का गन्तव्य स्थान है ब्रह्मस्थान (—१०)। मायाविमोहित लोग भिन्न मार्गों का समर्थन करते हैं। वेदों में प्रतिष्ठित तत्त्वार्थ केवल एक प्रणव ही है। प्राण और अपान का एक करना ही निराकार को प्रत्यक्ष करना है और यह प्राणायाम से साध्य है (—१८)। मद्य तू (पार्वती) है और शुक्र या मांस में (ईश्वर) हूँ। अविद्या मदिरा है और विद्या मांस है। विद्या और अविद्या का समरूप तृतीय जो पिण्ड है उसे मैथुन कहते हैं। या विद्या-अविद्यारूप प्राण और अपान का एकीकरण ही मैथुन है। बिन्दु से नाद का आकर्षण किया जाता है, उसी को सुरापान कहते हैं। बिन्दु को कला खाती है वही है मांसभक्षण (—२८)। काल अभक्ष्य है, परमाकला अपेय है और परमतत्त्व अगम्य है। इनका भक्षण, पान और गमन योगी करता है (—३०)। सत्य त्रिपद, त्रिगुण, त्रिवेद, ब्रह्मविष्णु शिवात्मक है। यह सत्य अधम, मध्यम और उत्तम त्रिविध है। प्रणव के उच्चारण से प्राण का अध्वगमन होता है, वही सत्य है। वैखरी वाणी के उच्चारण द्वारा प्राण अधोगामी होता है, उसी को असत्य कहते हैं (—४०)। बिन्दु का चलित होना ही संसृति का कारण है। वह एक ही बिन्दु सर्वजीवों में त्रिभावात्मक रहता है। बिन्दु के अधोमार्ग में जाने से प्रवृत्ति होती है और ऊर्ध्वमार्ग में जाने से निवृत्ति होती है। वल्लिस्थान को छोड़कर सूर्य-स्थान में जब बिन्दु जाता है तब शरीर का पतन होता है। वायु को साध्य करने से बिन्दु साध्य होता है। अन्न के सेवन से निर्माण होने वाले बिन्दु को धातु कहते हैं; मगर असल में बिन्दु उसी को कहते हैं जो शरीर में चैतन्य है। वह शिवरूप है। बिन्दु के स्थिर होने से आयुष्य की वृद्धि और मन की निश्चलता होती है। चंचल बिन्दु भी योनिमुद्रा से निबद्ध होकर ऊपर की ओर जाता है तब निश्चल होकर देह का काल से रक्षण करता है (—६६)। पवन के अभ्यास से देह निश्चल हो जाता है। अमूर्त के ध्यान से योगी अदृश्य बन जाता है। उसी को जीवन्मुक्ति कहते हैं (—६८)। मुनि, अरण्यवासी, गृहस्थ और ब्रह्मचारी को क्रमशः आठ, सोलह, बत्तीस और यथेष्ट ग्रास लेना चाहिए।

पटल ४—देवी का वल्लिमार्ग—धूममार्ग इत्यादि के बारे में प्रश्न (—६)। ईश्वर का उत्तर—इड़ा में प्राण संस्थित है वही वल्लिमार्ग है और पिगला में अपान स्थित है वही धूममार्ग है। वल्लिमार्ग का आश्रय ब्रह्म है और धूम का भव। प्राण उत्तरायण है और अपान दक्षिणायन है। देह में प्राण और अपान वृक्ष और छाया की तरह है (—२५)। समान से उत्थित वल्लि में प्राण और अपान की आहुति देना ही प्राणाग्निहोत्र है (—३१)। परमेशरूप हंस स्वभाव (उत्तर) और भाव (दक्षिण) ये दो पक्ष हैं। उसके एक पक्ष से सृष्टि और दूसरे से संहार होता है। प्राणापानरूप पक्षद्वय के संयम से यह हंस निश्चल होने पर देहमुक्ति हो जाती है और नर आकाशगामी हो जाता है (३६)। उस हंस की स्थिरता विषुव में होती है। उभयपक्षरहित संध्याकाल ही विषुव है। नाडीत्रय गुणत्रयादि के अन्त में जो है वही विषुव है और प्राण का संयम करना ही पुण्य है। देह में प्रणव का ध्यान करने से ही सिद्धि होती है (५५)।

पटल ५—आत्मा के प्रतिकूल कर्म होते हैं। देह में स्थित गुण ही कर्म है। गुणों के प्रवाह से अधोमार्ग और बन्धन होते हैं और गुणरहित होने से ऊर्ध्वमार्ग और मुक्ति हो जाती है।

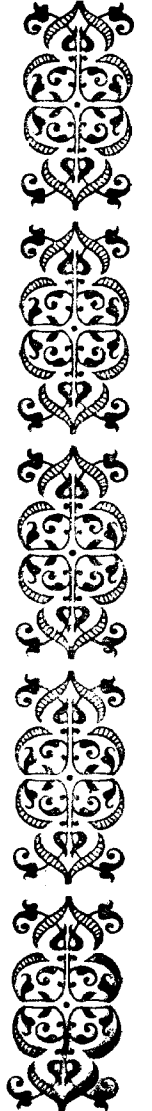
पटल ६—ब्रह्मार्पण का अर्थ प्रतिपादन। कर्म मनोमय हैं और कर्मों का त्याग ही ब्रह्मार्पण है। ब्रह्मविद्या ज्ञान है (—१२)। ब्रह्म को कर्म, स्वभाव, काल, काम इत्यादि नाम से कहते हैं। मगर शरीर में स्थित वायु ही देह में आत्मा है। वह हरि है। उसी की चारों वेदों में स्तुति है। योगाभ्यास से उसकी प्राप्ति होती है (—२१)। अपान और प्राण का संयोग ही योग कहलाता है। प्राण का संयम करके अन्तर्नाडी में संचार करना ही ब्रह्मार्पण करना है। षट्चक्र का भेदन ही ब्रह्मार्पण है।

पटल ७—देवी का षट्चक्रों के बारे में प्रश्न। ईश्वर का उत्तर—षट्चक्रों के भेदन का प्रमुख उपाय है आचार। अपने-अपने कर्मों में स्थित रहना ही आचार है। श्रुतिचोदित विधि से प्रथम शौच करना चाहिए, बाद में पादप्रक्षालन, आचमन, स्नान, धौतवस्त्र परिधान करके सूर्योदय में न्यासपूर्वक गायत्री जप करके ध्यान करना चाहिए।

कर्मत्याग करके योगाभ्यास करने वाले को बहुत-से विघ्न होते हैं (—११)। मोहमात्सर्यवर्जित होकर कर्मकाण्ड में रत रहने वाले व्यक्ति ही योगेश्वर हैं (१२)। श्रवण, दान, पूजन, आस्तिक्य, मैत्री, ब्रह्मचर्य, मौन इत्यादि योग के साधन हैं (—१७)। सदाचार से वैराग्य, वैराग्य से गुरुप्राप्ति और उससे योग का ज्ञान होता है। इसके कारण कर्म का त्याग नहीं करना चाहिए। गीता में कथित यम-नियमों का पालन करके कर्मसाधन करना चाहिये (—२०)। शुद्ध देश में गणेश, दुर्गा, विष्णु, गुरु और शिव का पूजन करके मठ में आसन करें। उस पर सिद्धासन लगाकर भ्रूमध्य में दृष्टि करके गुरुपदिष्ट मार्ग से प्राणायाम करें। इससे नाडीशुद्धि हो जाती है (—३२)। अपान आधारचक्र है। प्राण स्वाधिष्ठान चक्र है। समान मणिपूर है। उदान अनाहत है। व्यान विशुद्ध है। उसके बाद आकाशकमलस्थित चक्र है (—३७)। इन चक्रों में वर्णमातृकाओं का स्थान है। प्राणापान रूप ह-क्ष वर्ण व्योमचक्र में है। षट्चक्रों के सम्बन्ध से संसार है और उसके भेद से मुक्ति। प्राण ही चक्रस्वरूप है और वह स्वयं ही अपना भेद करने वाला है। इसलिए प्राण का संयमन करें। प्राण ही निश्चल निराकार केवल शाश्वत ब्रह्म है और उसका ज्ञान ही ब्रह्मज्ञान है (—५७)। यह शास्त्र अनधिकारी व्यक्ति को नहीं देना चाहिए। इस ज्ञान से अन्य कुछ पवित्र नहीं है (—८१)।

पटल ८—योग की दीक्षा के बारे में प्रश्न (—५)। उत्तर—ज्ञान का दान और कर्म का क्षालन होने से दीक्षा नाम सिद्धि होता है। वह दीक्षा त्रिविध है—शांभवी, वेद्य और आणवी। यही प्रणव के और प्राणायाम के तीनों अंशों में विद्यमान है (—२२)। ब्रह्मदीक्षा, प्रणवदीक्षा, मन्त्रदीक्षा इत्यादि व्यर्थ है। सत्संग से ही कौलिक दीक्षाज्ञान होता है। योग और दीक्षा एक ही है (—३६)।

पटल ९—चार आश्रमों के बारे में प्रश्न। अमूर्त, सगुण-निर्गुण, प्राणलिंग की धारणा व पूजा आदि के बारे में प्रश्न (—१५)। मणिपूर, अनाहत, निरंजन और निरालय इन चार क्रमों में रहने वालों को क्रमशः ब्रह्मचारी, गृही, वानप्रस्थी और यती कहते हैं (—२७)। वाग्दण्ड, कर्मदण्ड और मनोदण्ड इन तीन दण्डों को धारण करने वाला त्रिदंडी है। इससे परा है ज्ञानदण्ड। इसलिए उसको धारण करने वाला यती एकदण्डी कहलाता है। ज्ञानमयी शिक्षा धारण करने वाला शिखी होता है। परमपद को सूत्र कहते हैं। ब्रह्मभाव से विचरण करने वाला ही ब्रह्मचारी है। इन्द्रिय पशु को अव्यक्ताग्नि में हवन करने वाला वानप्रस्थ है। त्रिगुण से रहित हंस होता है। विचार शब्द में 'वि' का अर्थ है हंस और 'चार' का अर्थ है उसका निरंजन में विचरण होने वाला। यही महावाक्यविचार है (—५०)। सूददोहा ही परब्रह्म है। नियत कर्म का त्याग नहीं करना चाहिए। अतः सूददोहा का नित्य अभ्यास करना चाहिए। विभिन्न धर्मों के अभिमानी योग को जानते नहीं (—६८)। वेद के पूर्वभाग में कर्ममार्ग का उपदेश है। उससे द्वैत बढ़ता है। उससे देह गुण वृद्धि होता है। परिणामस्वरूप दुःख की प्राप्ति होती है। इसलिए ज्ञानी कर्म का त्याग करते हैं। सुख के लिए कर्म करते हैं मगर कर्म से सुख की उपलब्धि नहीं होती। कर्म से उत्पत्ति, स्थिति और संहार होता है। ज्ञान से इन तीनों का नाश होता है (—१०४)। योगी उत्तम कुल में जन्म लेता है। योगाभ्यासरत मुनि धन्य है (—११६)। षट्कर्मों को साध्य करने की युक्तियाँ हैं—आधार में यजन, स्वाधिष्ठान में याजन, मणिपूर में अध्ययन, अनाहत में अध्यापन, विशुद्ध में दान और आज्ञा में प्रतिग्रह। इसी तरह का कर्म मोक्षदायी होता है (—१२५)। योग साधना के लिए जाति का बन्धन नहीं है। योग का प्रथम साधन है सज्जनसंगति। आत्मयोग ही परमधर्म है। ब्रह्मज्ञान केवल गुरुमुख से ही प्राप्य है। योगमार्ग ही प्रशस्त है (—१४२)। आश्रमों का फल योग है और उनकी गति है मुक्ति (—१४३)। सर्वभूतों में स्थित मुझ ईश्वर को छोड़कर अन्य की अर्चा करने वाला भस्म में हवन करता है (—१४६)। शब्द-ब्रह्म मेरा शरीर है (—१५०)। सब कर्म संसारफल देने वाले हैं। देह में ईश्वर का वास है। उसकी पूजा करनी चाहिए। चतुर्विध भूतग्राम में स्थित ईश्वर को सगुण कहते हैं। उसकी त्रिविध मानसपुष्प से समाराधना करनी चाहिए। जिससे गुणों की साम्यता हो उसी को पूजा कहते हैं। उसको निरालम्बा पूजा कहते हैं। षोडशोपचार पूजा बाह्य है। उससे मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती (—१७०)। चित्त ही प्राणलिंग कहा जाता है। चित्त की षट्चक्रों में धारणा करना ही प्राणलिंग धारण करना है। अधोरमन्त्र से उसकी पूजा होती है। उसका लक्ष जप करने के लिए कहा है। उसका ह्रस्व-दीर्घ-प्लुत भेद वाचिक, उपांशु और मानस रूप में है (—१८५)। भक्ति, कर्म, तप, दान, दीक्षा इत्यादि सब प्रणव में है और प्रणव ही योग है। योगी सर्वदेवमय है (—१६७)। अभ्यासयोग से साकार देही निराकार हो जाता है (१६८)। योगशास्त्र में जीव और शिव में भेद नहीं है। प्राणसंयमन यही एक मार्ग है। इस अकुलागम शास्त्र को लोकोद्धार के लिए वेदशास्त्र से साम्य रखकर यह मार्ग बतलाया है (—२०६)। कलियुग ४०४० वर्ष में विध्य के दक्षिण में गंगा के दक्षिण तट पर द्विज रूप में मैं अकुलागम कहूँगा (—२१५)। यह शास्त्र अनधिकारी व्यक्ति को नहीं देना चाहिए। योग ही सर्वश्रेष्ठ है। आसनादि क्रम से प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिए। अभ्यास से वायु स्वयं व्योममण्डल में जाता है (—२३४)।



अब इस ग्रन्थ की कुछ विशेषताओं के बारे में विचार करना है। सबसे पहले यह बात ध्यान में आती है कि इस ग्रन्थ में षष्ठांग योग बताया है (योगं च षड्विधं प्रोक्तम्...१।१३)। हमें ज्ञात है कि पतञ्जलि से अष्टांग योग की प्रसिद्धि है। अनन्तर बहुत से योग ग्रन्थों में योग के आठ अंग कहे हैं, मगर इस बात को नहीं भूलना चाहिए षडङ्ग योग मानने वालों का भी एक संप्रदाय था। इनमें प्रायः यम और नियम इन दोनों प्राथमिक अंगों को गिना नहीं जाता था। गोरक्षनाथ की सिद्धसिद्धान्तपद्धति में अष्टांग योग में यम और नियमों का उल्लेख जरूर है, मगर ये यम और नियम भगवद्गीता या पातञ्जल सूत्र के यम-नियमों से कुछ अन्तर रखते हैं। त्रिशिखिन्नाह्यमणोपनिषदादि कुछ योग-उपनिषदों में योग के छः अंग बताये हैं। सम्भवता छः अंग मानने वालों का सम्प्रदाय प्राचीन है। प्रस्तुत ग्रन्थ में यम और नियमों का नाम से उल्लेख जरूर है। मगर उनकी योग के अंगों में गिनती नहीं की गयी है और उनका स्पष्टीकरण भी नहीं किया गया है।

यह ग्रन्थ योग के अन्य ग्रन्थों से भिन्न है। इसमें आसन, प्राणायाम, ध्यान इत्यादि अंगों का प्रात्यक्षिक विवरण या तात्त्विक विश्लेषण नहीं है। यहाँ है केवल प्रशस्ति। केवल योगमार्ग की प्रशस्ति। उसमें भी केवल प्राणायाम की प्रशस्ति है। ध्यानादि अंगों का केवल नाममात्र उल्लेख है। तो इतने पूरे लगभग सात सौ श्लोकों में क्या लिखा है? ऊपर दिये हुए सारांश से विषय का पता जरूर चलता है। मगर इन विषयों का सन्दर्भ क्या है? क्रम क्या है? क्यों इन विषयों का विवेचन यहाँ किया है?

ठीक ध्यान देने पर इस बात का पता चलता है कि इस ग्रन्थ में उन विषयों पर विशेषतः उन पारिभाषिक संज्ञाओं पर विचार किया है जो कि विभिन्न तात्त्विक व धार्मिक सम्प्रदायों में विशेष स्थान रखते हैं। और इनका विचार भी उस ढंग से किया है जिससे इन संज्ञाओं के योग वैज्ञानिक रूप में अर्थ स्पष्ट हो जाय। वह्नियोग और धूमयोग, षट्कर्म, दीक्षा, सगुण पूजा इत्यादि संज्ञाओं का स्पष्टीकरण देखने योग्य है। हर एक पटल के प्रारम्भ में देवी ने ईश्वर से ऐसी कुछ संज्ञाओं के बारे में प्रश्न पूछा है और बाद में उत्तररूप में ईश्वर ने उन संज्ञाओं के अर्थ दिये हैं। हर एक पटल में क्रमशः देवी द्वारा पूछे गये प्रश्न ये हैं—(१) कर्म और योग में मोक्ष का साधन कौन-सा है? सब शास्त्रों में कौन-से एक तत्त्व का विचार है? योग के छः अंग, जीव, गुणात्मिका शक्ति, निर्गुण परमात्मा, वली-पलित, जरा स्तंभन इत्यादि क्या हैं? (२) कर्म-अकर्म-विकर्म, चार मनोवस्था, धर्माधर्म, बन्धन-मोक्ष, जीवित-मरण, भावाभाव, चार योग, सहज ध्यान इत्यादि क्या हैं? (३) नेति नेति का अर्थ, दृष्ट-नष्ट-अदृष्ट, मद्य-मैथुन-मांस, सत्यासत्य, बिन्दुपान इत्यादि। (४) अग्निधृमात्मक मार्ग, चन्द्र-सूर्य का संचार, विषुव, प्रणवरूप हंस इत्यादि। (५) गुण और माया (यह पटल 'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्' इस श्लोकपंक्ति की टीका पर है) (६) ब्रह्मास्वरूप (यह पटल 'ब्रह्ममार्पणं ब्रह्महविः...' इस श्लोक की टीका पर है)। (७) षट्चक्रभेदन (८) दीक्षा (९) चार आश्रम, कर्मयोग, संन्यास, हंस, परमहंस, त्रिदंडी, एकदण्ड, मूर्तामूर्त, पूजा, सगुण-निर्गुण, प्राणलिंग और उसकी धारणा इत्यादि।

इससे पता चलता है कि योगमत के सिवाय अन्य विश्वासों का योगमार्ग के अनुकूल अर्थ लेकर योगमार्ग की श्रेष्ठ मार्ग के रूप में प्रतिष्ठापना करना यही इस ग्रन्थ का उद्देश्य है। इससे समझना चाहिए कि इस ग्रन्थ का कर्ता योगमार्ग का दृढ़ अभिमानी था। कर्ममार्ग, ज्ञानमार्ग, भक्तिमार्ग और योगमार्ग का वाङ्मय देखने से हमें पता चलता है कि उनके कर्ता या तो अन्य मार्गों की निन्दा करते हैं अथवा उनके मतों का समन्वय करके अपने मत के अन्तर्गत उनका स्थान दिखलाते हैं। सभी मार्गों की यह विशेषता है और मार्गियों की यही रीति है। मानो अपने मार्ग की श्रेष्ठता प्रस्थापित करने के लिए उन्हें यह करना ही पड़ता है। प्रस्तुत ग्रन्थ योगमार्ग का श्रेष्ठत्व प्रस्थापित करते हुए अन्य मार्गों से समन्वय रखता है।

योगमार्ग में प्राणायाम का अनन्यसाधारण महत्व है और वायु को साध्य करने से सब कुछ सिद्ध होता है यही हठयोग की धारणा है। अकुलागम में आदि से अन्त तक केवल यही भाव दृढ़ रखा गया है। वायु ही आत्मा है और वायु ही परमेश्वर है—इसको सिद्ध करने के लिए उन्होंने प्रमाण लिया है ऋग्वेद के 'आत्मा देवानां...' (ऋग्वेद १०।१६८।४ और अकुलागम ६।१८) इस मन्त्र का। इस ग्रन्थ में योग के किसी अंग का विशेष रूप से विचार किया गया है तो वह है प्राणायाम का। उसका देवता है विष्णु और स्थान है नाभि। इसी प्राणायाम का प्रणव से समीकरण किया है। देखिए—

प्रणवः प्रोच्यते सद्भिः प्राणायामस्तृतीयकः ॥१।११॥

प्राणायाम के बिना अमूर्त में भावना नहीं होती। इसलिये हर प्रयत्न से प्राणायाम का ही अभ्यास करना चाहिए—

अमूर्ते भावना विद्धि प्राणायामेन नान्यथा ।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन प्राणायामं समभ्यसेत् ॥३१८॥

यही मोक्ष का दाता है—

प्राणसंयमनं पुण्यं निर्गुणं मोक्षदायकम् ॥४१५२॥
बिन्दु को साध्य करने का साधन वायु ही है और बिन्दु सिद्ध होने से अन्य सब सिद्ध हो जाता है—
वायुना साध्यते बिन्दुर्नचान्यं बिन्दुसाधनम् ।
सिद्धे बिन्दौ महारम्भे सर्वसिद्धिः प्रजायते ॥३१५६॥

योगमत में शरीरस्थित चैतन्य ही बिन्दु है। उसका चलन या स्थिरता वायु के अनुसार है। उस बिन्दु के अधोमार्ग में जाने से गर्भवास, जरा-मरण इत्यादि संसार है और ऊर्ध्वमार्ग में जाने से मोक्ष की प्राप्ति है। इसके बारे में तृतीय पटल में विशेष विवेचन है। वायु की धारणा करने में योनिमुद्रा (वज्रोली ?) का विशेष स्थान है। इसका भी निर्देश इस ग्रन्थ में हुआ है—

चलितोऽपि यदा बिन्दुः संप्राप्नोति हुताशनम् ।
व्रजत्पूध्वं हतः शक्त्या निबद्धो योनिमुद्रया ॥
तदासौ निश्चलोभूत्वा रक्षते देहपञ्जरम् ।
कालोप्यकालतां याति इति वेदविदोऽब्रवीत् ॥३१६५-६६॥

वायु के अभ्यास से देह ब्रह्मरूप हो जाता है। अमूर्त के ध्यान से देह अदृश्य हो जाता है और उसी को जीवन्मुक्ति कहते हैं। देखिए—

ब्रह्मरूपो भवेद्देहोऽत्राभ्यासात्पवनस्य च ।
अमूर्ते ध्यानयोगेन अदृश्यो जायते स्वयम् ॥३१६७॥
जीवन्मुक्तिरिति ख्याता नान्यथा मुक्तिरुच्यते ।

मूल सम्प्रदाय स्रोत में पारिभाषिक संज्ञाओं के अर्थ कुछ भी हों, इस ग्रन्थ में उनके योगमार्ग की दृष्टि से अर्थ दिये हैं। ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही नारद मुनि ने नारायण से प्रार्थना की है—

अनेकशास्त्रश्रवणादस्माकं भ्रामितं मनः ।
एतच्च कारणं किञ्चित्किं योगः प्रोच्यते श्रुतौ ॥३१३॥

वीरशैव सम्प्रदाय में प्राणलिंग को धारण करने की पद्धति है। अब इस योगशास्त्र की दृष्टि से षट्चक्रों के मार्ग में नाभि, हृदय, कण्ठ, भ्रूमध्य आदि स्थानों में चित्त की धारणा करना ही प्राणलिंग को धारण करना है—

प्रथमं धारयेन्नाभौ मावपुष्पैः प्रपूजयेत् ।
हृदये च तथा कंठे भ्रुवोर्मध्ये वरानने ॥३१७६॥

शाक्त सम्प्रदाय में मद्य, मांस और मैथुन का महत्व है। इस ग्रन्थकार की दृष्टि से अविद्या मद्य है, विद्या मांसरूप है और इनका एकत्र वास ही मैथुन है। तृतीय पटल में लिखा है—

अविद्या मदिरा ज्ञेया भ्रामिका विश्वरंजिका ।
विद्या मांससमुद्दिष्टा मोक्षका चोद्ध गामिनी ॥३१३॥
विद्याविद्यात्मकं पिण्डं तृतीयं समरूपकम् ।
मैथुनं तत्परं देवि ज्ञातव्यं मोक्षसंभवम् ॥३१४॥

इसी ढंग से देखिए श्रौतमार्ग के प्राणाग्निहोत्र का अर्थ—

समानादुत्थितो वह्निस्तत्र मध्ये असृष्टयम् ।
स्वाहोच्चारितमंत्रेण हुत्वा यज्ञः प्रकीर्तितः ॥४१३०॥
प्राणाग्निहोत्रं परमं पवित्रं येनैककाले विजितं स सद्यः ।
देहस्थितं योगजरापहारं मोक्षस्य सारं मुनयो वदन्ति ॥४१३१॥

यही गति है स्मार्तधर्म के संध्यावन्दन की। प्राण और अपानरूप अहः और रात्रि के बीच विषुव में ध्यान करना ही संध्या है—

अहः प्राणश्च विज्ञेयो अपानो रात्रिरेव च ।
संध्यां विषुवं ध्यानं वन्दनं पुण्यकर्मणाम् ॥४१४२॥



अहोरात्रिद्वयोर्मध्ये ब्रह्मसंचारिणी कला ।

सा संध्या ज्ञाननिष्ठानां विशुद्धं परिकीर्तितम् ॥४१४३॥

इस ग्रन्थ पर भगवद्गीता का बहुत असर है। इसमें जगह-जगह पर भगवद्गीता के अवतरण हैं। छठा पटल तो 'ब्रह्मार्पणं ब्रह्महवि'... इस गीतोक्ति की टीकात्मक ही है। कुछ अन्य उदाहरण हैं—भूतभवान भूतेश (१।२३); किं कर्म किमकर्मेति'... (२।८-९); कर्मण्यकर्म यः पश्येत्'... (२।१२); अग्निर्ज्योतिरह, कृष्णः'... (४।८-९); चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टम्'... (६।१६); काम्यानां कर्मणां न्यासं'... (६।५२-५३); प्राप्य पुण्यकृतां लोकान्'... (६।११०-११३); अहं सर्वेषु भूतेषु'... (६।१४६) इत्यादि।

भगवद्गीता का मूल भावार्थ लोग जानते नहीं। योग की दृष्टि से भगवद्गीता का अर्थ देखना चाहिए, ऐसा इस ग्रन्थ का अभिप्राय है। जैसे—

गीताशास्त्रस्य भावार्थं न जानन्ति यथार्थतः ।

प्रलयन्त्यन्यथायुक्त्या भ्रामिता विष्णुमायया ॥४११०॥

इससे यह प्रतीत होता है कि यह ग्रन्थ श्रुतिमार्ग (किं योगः प्रोच्यते श्रुतौ १।३) और भगवद्गीतोक्त स्मृतिमार्ग का अभिमानी है। इसलिए श्रुति और गीतारूप स्मृति का प्रमाणरूप में उद्धरण किया है और उनका योगमार्ग के अनुकूल अर्थ बताया है।

★★★

(शेष ११२ का)

जीवन जीना नहीं है। चाहे सुख की सुनहरी घूप हो, चाहे दुःख की काली निशा हो, साधक को दोनों ही स्थिति में समभाव में रहना चाहिए। गीता में इसे ही योग कहा है—'समत्वं योगमुच्यते' तथा 'योगः कर्मसु कौशलम्' है।

योग की साधना सभी व्यक्तियों के लिए है—चाहे वह गृहस्थ हो या साधु हो। हाँ, पात्र की दृष्टि से उसमें भेद हो सकता है। गृहस्थाश्रम का जीवन भी एक दृष्टि से अखण्ड कर्मयोग का जीवन है। उसके जीवन में अनेक उत्तरदायित्व हैं। एतदर्थं भगवान् महावीर ने गृहस्थाश्रम को 'घोर आश्रम' की संज्ञा प्रदान की है। गृहस्थाश्रम में रहकर योग की सम्यक् साधना की जा सकती है। प्रतिदिन प्रातः और सन्ध्या को नियमितरूप से गृहस्थ को योगाभ्यास करना चाहिए, जिससे तन और मन दोनों स्वस्थ रह सकें। योग से तन में अपूर्व स्फूर्ति पैदा होती है। कितना भी कार्य किया जाय तो भी थकान का अनुभव नहीं होगा और वही ताजगी बनी रहेगी तथा मन में भी वही उत्साह अँगड़ाइयाँ लेता रहेगा। मेरा स्वयं का अनुभव है कि जो व्यक्ति जीवन से हताश और निराश हो गये थे और आत्महत्या जैसे जघन्यकृत्य करने पर उतारू हो चुके थे, मेरे सम्पर्क में आकर और योगाभ्यास करने से आज वे तन से स्वस्थ और मन से प्रसन्न हैं। वस्तुतः योग वह संजीवनी की बूटी है जिससे सभी व्याधियाँ नष्ट हो जाती हैं। योग एक विज्ञान है। योगासनों से शरीर में 'इंडोक्राइन ग्रन्थियाँ' (Indocrine Glands) अपना कार्य कम कर देती हैं और हारमोन्स ग्रन्थियाँ अपना कार्य प्रारम्भ करती हैं। उससे वह अन्तःस्राव 'कार्टेक्स' अर्थात् मस्तिष्क में जाता है जिससे उस व्यक्ति को मानसिक शान्ति मिलती है तथा उसका मानसिक सन्तुलन बना रहता है। उसके नर्वस सिस्टम (Nervous System), मज्जातन्तु और नाड़ी संस्थान श्रेष्ठ होते हैं। अतः सतत योगाभ्यास कर जीवन का सच्चा और अच्छा आनन्द प्राप्त करना चाहिए।

★★★